पारो की कहानी

चित्रांकन सुलभा घोष

सुलभा मेहदी

सुग़रा मेहदी

आत्म सम्मान और साहस को औरत की ज़िन्दगी में महत्त्व देने वालीं सुग़रा मेहदी, आज की प्रमुख उर्दू लेखिकाओं में से हैं।

अपनी खालाजान (मौसी) साहिबा अबिद हुसैन के प्रोत्साहन से 15 साल की उम्र से ही उन्होंने लिखना शुरु किया। उनका पहला उपन्यास 'पा बा जौलान' 1973 में प्रकाशित हुआ। समाज की कुरीतियों में पलती और बढ़ती एक लड़की की कठिन परिस्थितियाँ ने उनको बहुत प्रभावित किया है। औरतों के लिए एक बेहतर ज़िन्दगी ही उनकी कहानियों का मूल है। उनकी रचनाएँ औरतों को रूढ़ीवादी समाज की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। पारो की कहानी भी ऐसी ही एक उर्दू कहानी का अनुवाद है।

आजकल सुग़रा मेहदी, दिल्ली के जामिया मिलिया इस्लामिया विश्व विद्यालय में उर्दू साहित्य पढ़ाती हैं।

पारो की कहानी

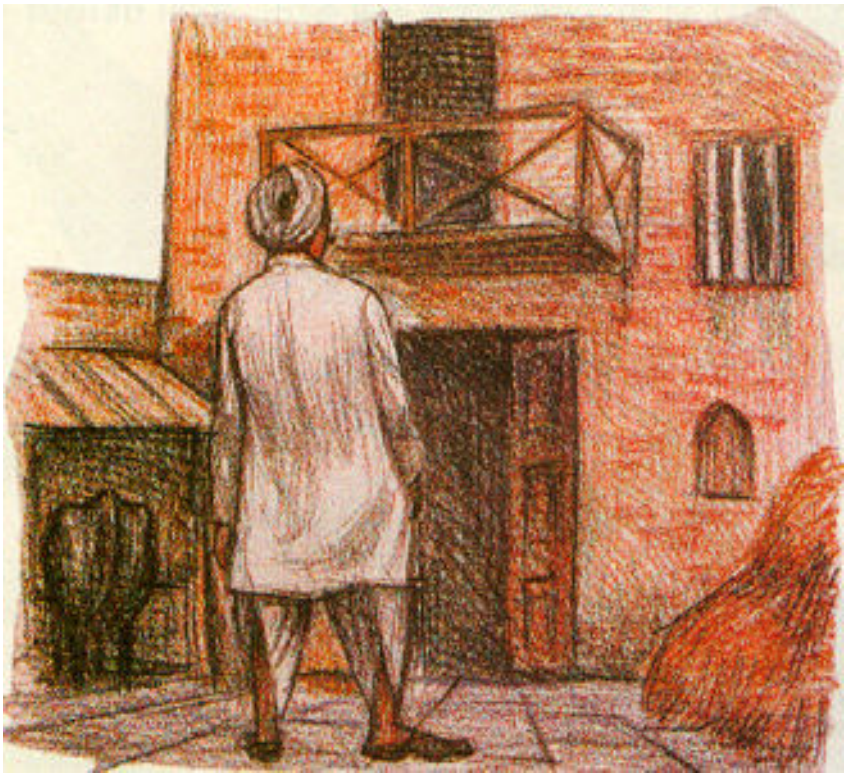

'पारबती, पारबती ! पारो, पारो...' बाबूजी उसे पुकारते। लेकिन वह तब तक जवाब न देती जब तक कि वे उसे बेटा न कहते।

माँ गुस्सा होतीं। 'अरे ! तुम उस का दिमाग़ खराब कर रहे हो। बेटा तो हमारे भाग्य में नहीं। इसे भी दूसरे घर जाना है। अभी से दब कर नहीं रहेगी तो ससुराल में क्या होगा ?'

पारो की चारों बहनें घर के काम करतीं, अपनी सहेलियों के साथ खुसर-फुसर करतीं।

पर पारो का घर में मन न लगता। वह बाहर घूमा करती। बाबूजी के साथ खेतों पर जाती, भैंसे चराती।

एक-एक साल के अन्तर से बहनों की शादियाँ हो गईं। सारे घर का काम अब पारो के ऊपर आया। मगर घर में उसका दम घुटता था। वह रोटी पकाती तो जला देती, दाल कच्ची की कच्ची रहती। दोपहर को सब की आँख बचाकर सड़क पर खूब तेज़ साइकिल दौड़ाती। माँ तो बुरा-भला कहती ही थीं, अब बाबूजी भी उसे डाँटने लगे थे।

बहनें साल भर बाद ससुराल से आतीं, तो उनके पेट या गोद में बच्चा होता। सास-ननदों का रोना होता और घरवाले की शिकायतें होतीं।

उस बार फसल काटने के बाद बाबूजी पारो के लिए लड़का ढूँढने निकले। पारो ने भगवान से प्रार्थना की, सवा रुपये की मन्नत भी माँगी कि बाबूजी को लड़का न मिले। और बाबूजी को लड़का नहीं मिला।

मगर अब उसका क्या होगा ! वह सोचती–

मैं रोटी क्यों पकाऊँ ?

मैं शादी क्यों करूँ ?

मैं आदमी की मार क्यों खाऊँ ?

मैं बच्चे क्यों लटकाऊँ ?

और एक दिन इसी 'क्यों' की तकरार से घबरा कर वह गाँव से भाग गई और जा पहुँची बनारस।

एक नए शहर में, अकेले खड़े उसके मन में बार-बार एक ही सवाल उठ रहा था — अब वह क्या करेगी ? क्या वह भी घर-घर के बर्तन माँजकर और कपड़े सिलकर अपनी ज़िन्दगी की ज़रूरतों को पूरा करेगी ?

नहीं ! इन्हीं से भाग कर तो वह इतनी दूर आई थी। उसे तो कुछ ऐसा करना था जिसे करने में उसे खुशी मिले।

तभी उसकी नज़र स्टेशन पर खड़े रिक्शावालों पर पड़ी। पारो ने निश्चय किया कि यही उसकी नई ज़िन्दगी की शुरुआत होगी।

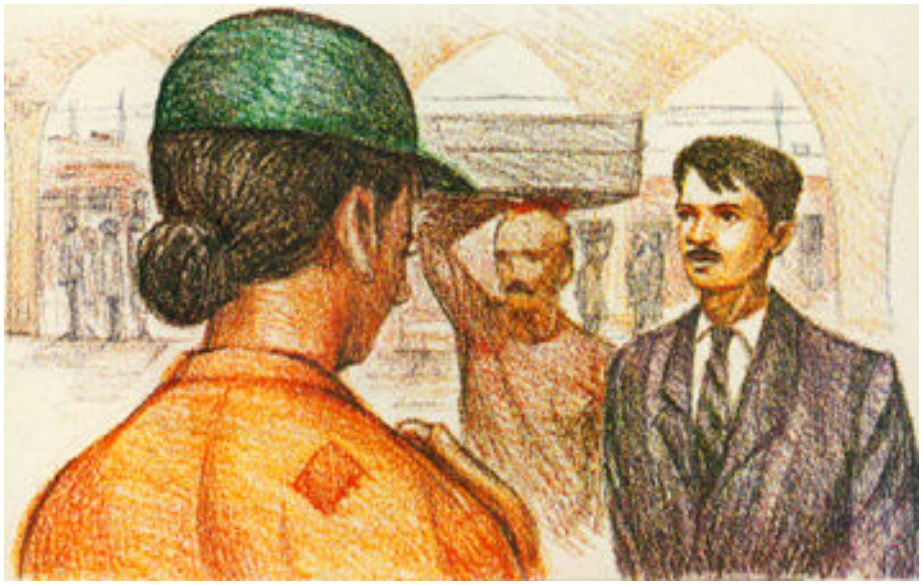

अब तो पारो को बनारस में एक साल होने को जा रहा था। स्टेशन पर गाड़ी आ कर खड़ी हुई। पारो ने अपनी टोपी ठीक की और पतलून के पाहिचे चढ़ाकर स्टेशन के दरवाज़े पर आ खड़ी हो गई। मुसाफ़िर निकल रहे थे। पारो की नज़र सवारी खोज रही थी। सामने से कोट-पतलून पहने एक नौजवान आ रहा था। हाथ में दफ़्तर का बक्स और साथ में सामान लिए कुली। पारो ने कुली को इशारा किया। सामान रखवा कर नौजवान को बैठने को कहा।

नौजवान ठिठका। फिर बोला, 'गम्मू खाँ के चौराहे के क्या लोगे ?'

'जितने आप दे देंगे।'

'अरे ! तुम... मेरा मतलब है...' वह उसे ध्यान से देखने की कोशिश कर रहा था।

'बाबू जी मेरा नाम पारो है।'

'पारो !'

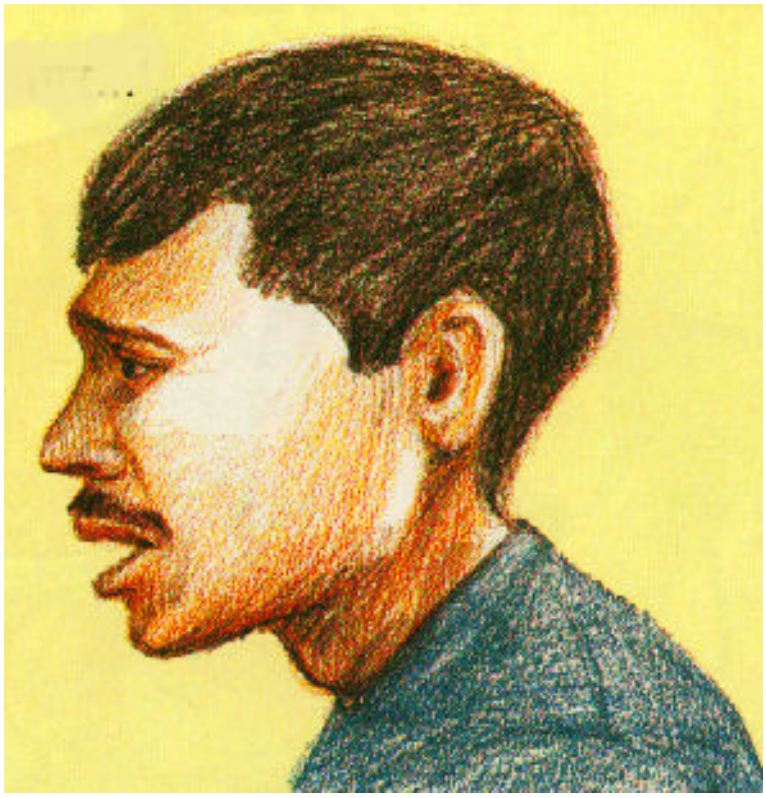

'हाँ, बाबू जी, पारो। गम्मू खाँ के चौराहे के तीन रुपये लगेंगे।'

'ठीक है। मगर क्या नाम बताया तुम ने - हाँ, पारो ! पारो, तुम रिक्शा क्यों चलाती हो?'

'बाबू जी, आप को मेरे रिक्शा चलाने से कोई तकलीफ़ है?'

'नहीं, मगर...'

'अच्छा बाबू जी, यह बताओ, तुम क्या काम करते हो ?'

'मैं ? मैं बैंक में काम करता हूँ।'

'मगर बाबू जी, तुम अस्पताल में काम क्यों नहीं करते?'

'मगर पारो बात यह है...'

'देखो बाबू जी, सबका अपना-अपना काम होता है। अब चुपचाप बैठो।' फिर पारो का रिक्शा हवा से बातें करने लगा।

'लो, यह रहा गम्मू खाँ का चौराहा, पैसे निकालो।' और पैसे लेकर पारो वहाँ से चली गई।

'आरिफ़ भाई, यह कैसा शहर है ? क्या यहाँ औरतें रिक्शा चलाती हैं ?'

'ऐ गज़ब ! तुम उस कलमुँही के रिक्शा में आए हो ?' मुमानी अम्मा ने सिर पीट लिया। आरिफ़ भाई मुस्कराए। 'तुमको पारो मिल गई होगी। भई, क्या दमदार औरत है!'

गाँव में उसे पारो के बारे में तरह-तरह की बातें सुनने को मिलीं। वह तवाइफ़ है, उसने अपने घर में आग लगा कर पूरे ख़ानदान को ख़त्म कर दिया है, वह पागल है, वह जादूगरनी है...

'वह जादूगरनी है !' नौजवान को यही बात सही लगी। उस पर वाक़ई पारो ने जादू कर दिया था। वह अब हर समय पारो के बारे में सोचता था। मगर पारो उसे दूर से देख कर रिक्शा तेज़ी से निकाल ले जाती। और वह उसे आवाज़ें ही देता रह जाता।

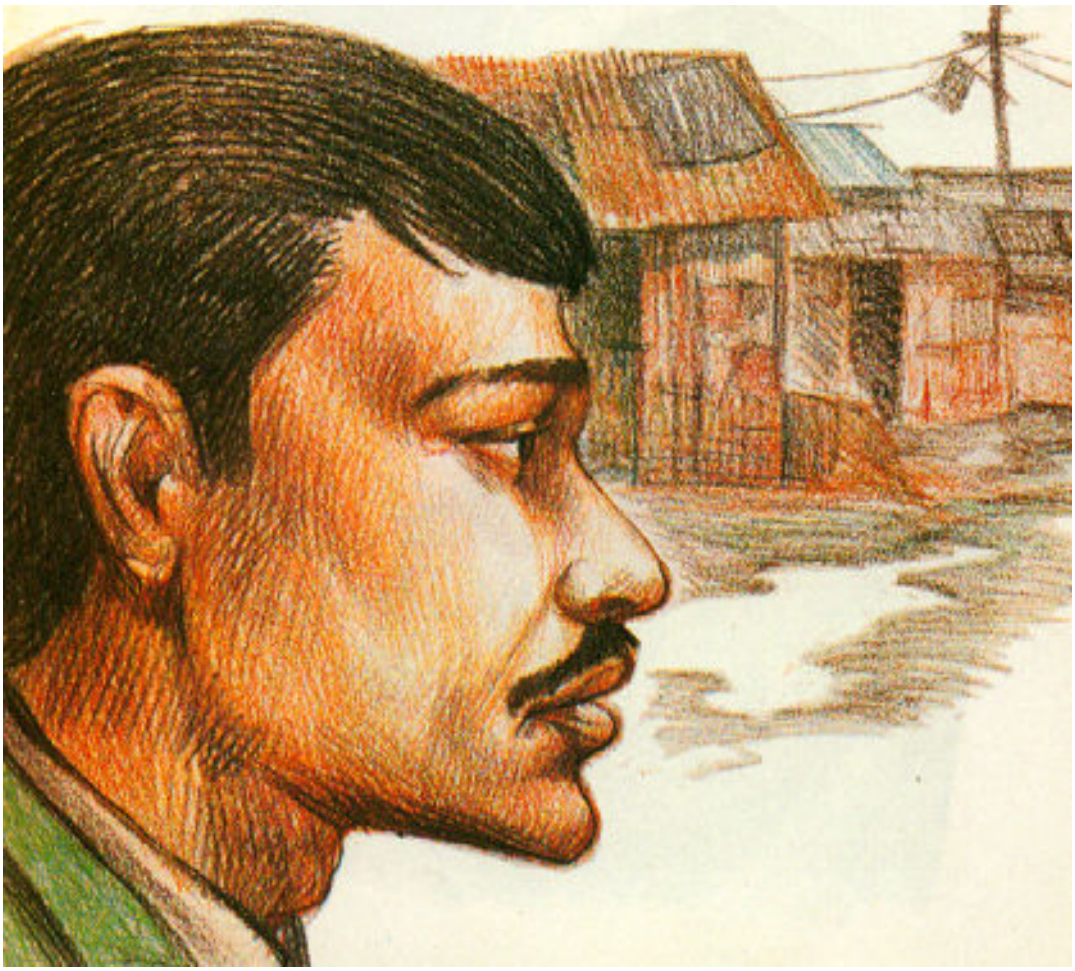

आखिर एक दिन उसने पारो का ठिकाना ढूँढ ही लिया। वहाँ पहुँचा तो कोठरी अन्दर से बन्द थी। बाहर पारो का रिक्शा खड़ा था।

उस की समझ में नहीं आ रहा था कि वह पारो की कोठरी पर कैसे दस्तक़ दे। तभी बराबर की कोठरी से एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले, तहमद बाँधे पहलवान निकले।

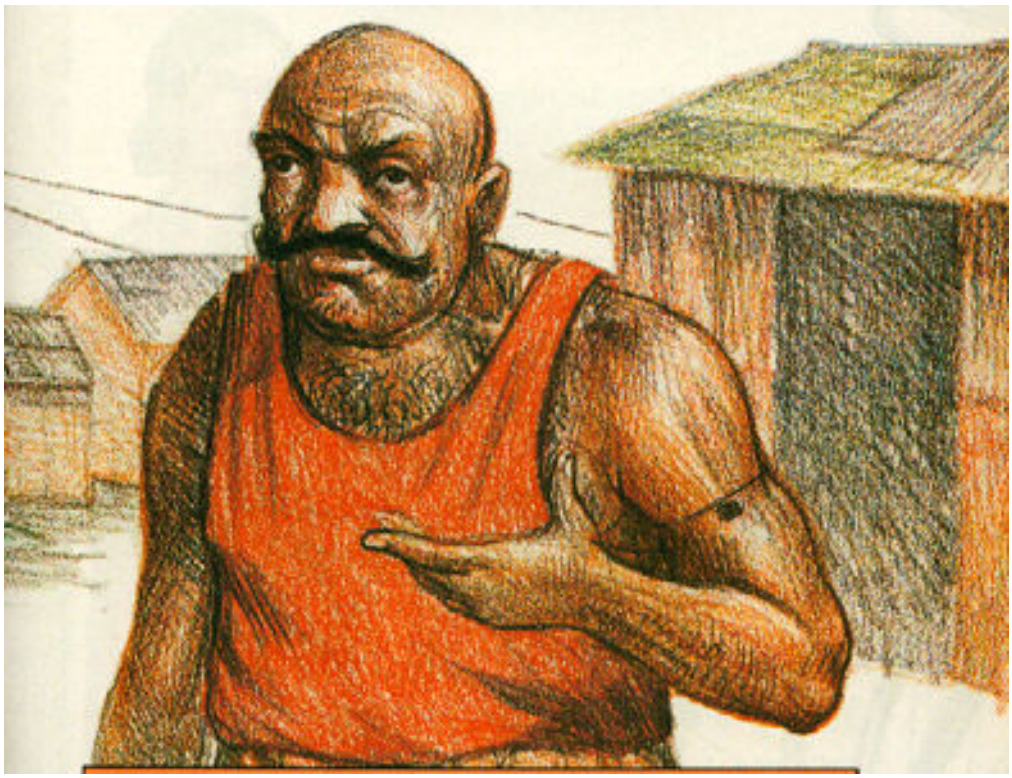

'कहो मियाँ, क्या बात है ?'

'जी, वह मुझे... मेरा मतलब है मुझे... पारो से मिलना है,' वह घबरा रहा था।

'पारो से ? मगर तुम्हें उससे क्या काम है ?'

इससे पहले कि वह कुछ जवाब देता, परो की कोठरी का दरवाज़ा एकदम से खुला।

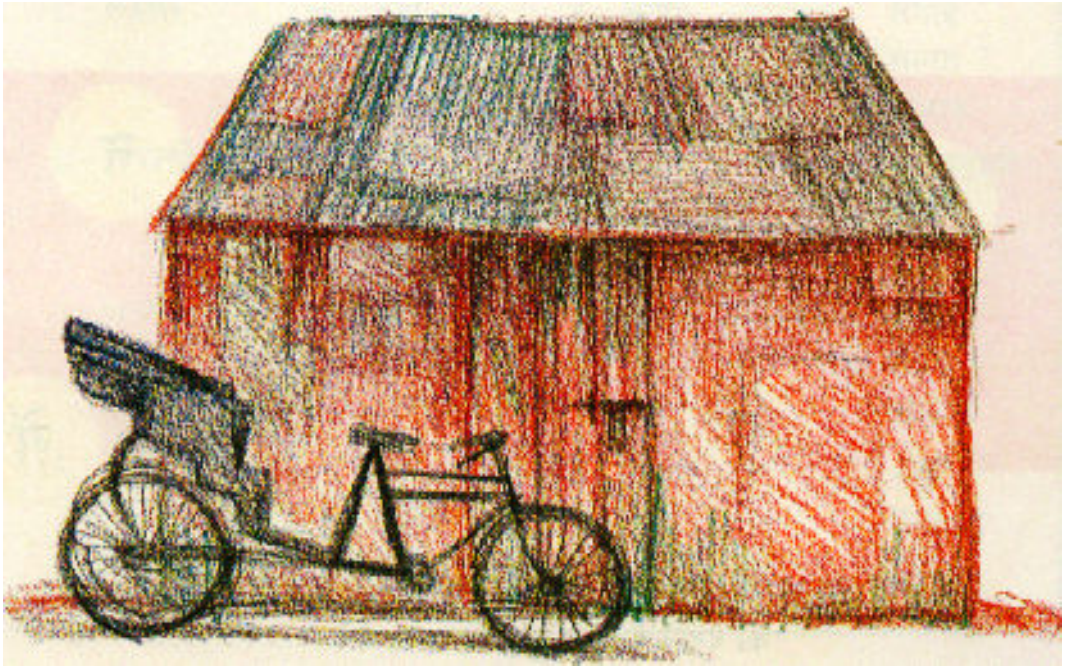

सामने पारो गुस्से में खड़ी कह रही थी, 'इन्हें कुछ काम नहीं है। इनके पेट में दर्द हो रहा है कि पारो रिक्शा क्यों चलाती है ?'

'नहीं, पारो ! बिल्कुल नहीं, यह बात नहीं है। सुनो तो पारो।'

'बस, ज़्यादा पारो, पारो मत करो। कान खोल कर सुन लो कि मैं रिक्शा इसलिए चलाती हूँ क्यों कि मुझे रोटी पकाना अच्छा नहीं लगता। मुझे बर्तन धोना अच्छा नहीं लगता। मुझे मर्द की मार खाना अच्छा नहीं लगता। और पारो वही करती है जो उसे अच्छा लगता है। समझे ?' और दरवाज़ा ज़ोर से बन्द हो गया।